पाश्चात्य विद्वानों का जैनविद्या को योगदान

डॉ० प्रेमसुमन जैन

आधुनिक युग में प्राच्यविद्याओं का विदेशों में अध्ययन १७वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। संस्कृत भाषा एवं साहित्य के बाद पालि एवं बौद्धधर्म का अध्ययन विदेशों में विद्वानों द्वारा किया गया। १८२६ ई० में बर्नोफ तथा लास्सन का संयुक्त रूप से 'ऐसे सुर ला पालि' निबन्ध प्रकाशित हुआ, जिसमें बुद्ध की मूल शिक्षाओं के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र में १८६१ ई० तक जो ग्रन्थ प्रकाश में आये,[1] उनमें प्राकृत व अपभ्रंश भाषा पर कोई विचार नहीं किया गया। क्योंकि तब तक इन भाषाओं का साहित्य विदेशी विद्वानों की दृष्टि में नहीं आया था।

किन्तु १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राकृत भाषा का अध्ययन भी विदेशी विद्वानों द्वारा प्रारम्भ हो गया। फ्रान्सीसी विद्वान् चार्ल्स विल्किन्स ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के अध्ययन के साथ प्राकृत का उल्लेख किया। हेनरी टामस कोलब्रुक ने प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ निबन्ध लिखे। तथा १८९७ ई० में लन्दन के जे० जे० फर्लांग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शार्ट स्टडीज इन ए साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलीजन्स' में शिलालेखों में उत्कीर्ण प्राकृत भाषा का उल्लेख किया है। इस प्रकार प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के अध्ययन के प्रति पाश्चात्य विद्वानों ने रुचि लेना प्रारम्भ किया, जो आगामी अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण भूमिका थी।

जैनविद्या के खोजी विद्वान

पाश्चात्य विद्वानों के लिए जैनविद्या के अध्ययन की सामग्री जुटाने वाले प्रमुख विद्वान् डा० जे० जी० बूलर थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में व्यतीत किया। १८६६ ई० के लगभग उन्होंने पाँच सौ जैन ग्रन्थ भारत से बर्लिन पुस्तकालय के लिए भेजे थे। जैन ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर डा० बूलर ने १८८७ ई० में जैनधर्म पर जर्मन भाषा में एक पुस्तक लिखी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद १९०३ ई० में लन्दन से 'द इंडियन सेक्ट आफ द जैन्स' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में डा० बूलर ने कहा है कि जैनधर्म भारत के बाहर अन्य देशों में भी फैला है तथा उसका उद्देश्य मनुष्य को सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना रहा है।

इस समय के जैनविद्या के दूसरे महत्त्वपूर्ण खोजी विद्वान् अल्बर्ट वेबर थे। उन्होंने डा० बूलर द्वारा जर्मनी को प्रेषित जैन ग्रन्थों का अनुशीलन कर जैन साहित्य पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। १८८२ ई० में प्रकाशित उनका शोधपूर्ण ग्रन्थ Indischen Studien (Indian Literature) जैनविद्या पर विशेष प्रकाश डालता है। इन दोनों विद्वानों के प्रयत्नों से विदेशों में प्राकृत भाषा के अध्ययन को पर्याप्त गति मिली है।

प्राकृत भाषा का अध्ययन

पाश्चात्य विद्वानों ने जैनविद्या के अध्ययन का प्रारम्भ प्राकृत भाषा के तुलनात्मक अध्ययन से किया। कुछ विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन करते हुए प्राकृत भाषा का अनुशीलन किया तो कुछ विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में अपनी शोध प्रस्तुत की। यह शोध-सामग्री निबन्धों और स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में प्राप्त होती है। पाश्चात्य विद्वानों के प्राकृत भाषा सम्बन्धी सभी लेखों और ग्रन्थों का मूल्यांकन प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः १९वीं एवं २०वीं शताब्दी में प्राकृत भाषा सम्बन्धी हुए अध्ययन का संक्षिप्त विवरण कालक्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९वीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में जर्मनी में प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। होएफर की 'डे प्राकृत डिआलेक्टो लिब्रिदुओ (१८३६ ई०) तथा लास्सन की 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाएँ इस समय की प्रमुख रचनाएँ हैं। पाँचवें दशक में प्राकृत ग्रन्थों का जर्मन में अनुवाद भी होने लगा था। ओ बोलिक ने १८४८ ई० में हेमचन्द्र के 'अभिधान चिन्तामणि' का जर्मन संस्करण तैयार कर दिया था।[२] स्पीगल (१९४९ ई०) ने 'म्यु'शनर गेलेर्नें आन्त्साइगन' में प्राकृत भाषा का परिचय दिया है।

इस समय तुलनात्मक दृष्टि से भी प्राकृत भाषा का महत्व बढ़ गया था। अतः अन्य भाषाओं के साथ प्राकृत का अध्ययन विदेशी विद्वान् करने लगे थे। डा० अर्नेस्ट ट्रम्प (१८६१-६२) ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया, जो 'ग्रेमर आव द सिन्धी लेंग्वेज कम्पेयर्ड विद द संस्कृत, प्राकृत एण्ड द काग्नेट इंडियन वर्नाक्युलर्स' नाम से १८७२ ई० में प्रकाशित हुआ। १८६९ ई० में फ्रेडरिक हेग ने अपने शोध-प्रबन्ध 'वर्गलचुंग डेस प्राकृत उण्ड डेर रोमानिश्चियन श्प्राखन' में प्राकृत भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में प्राकृत भाषा के व्याकरण का अध्ययन गतिशील हो गया था। डा० जे० एच० बूलर ने १८७४ ई० में 'द देशी शब्द संग्रह आफ हेमचन्द्र' एवं 'आन ए प्राकृत ग्लासरी इनटायटिल्ड पाइय-लच्छी' ये दो महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये।[३] तथा १८८९ ई० में आपकी 'ई० यूवर डास लेबन डेस जैन मोएन्दोस, हेमचन्द्रा' नामक पुस्तक विएना से प्रकाशित हुई। ई० बी० कावेल ने संस्कृत नाटकों की प्राकृत का अध्ययन प्रस्तुत किया जो सन् १८७५ ई० में लन्दन से 'ए शार्ट इंट्रोडक्शन टु द आर्डनरी प्राकृत आव द संस्कृत ड्रामाज विद ए लिस्ट आव कामन इर्रेगुलर प्राकृत वर्ड्स' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस सम्बन्ध में ई० म्यूलर की 'बाइत्रेगे त्सूर ग्रामाटीक डेस जैन प्राकृत' (बर्लिन, १८७५ ई०) नामक रचना भी प्राकृत भाषा पर प्रकाश डालती है। सम्भवतः प्राकृत व्याकरण के मूलग्रन्थ का अंग्रेजी संस्करण सर्वप्रथम डा० रूडोल्फ हार्नेल ने किया। उनका यह ग्रन्थ 'द प्राकृत लक्षणम् आफ हेमचन्द्राज ग्रेमर आफ द एन्शियेंट प्राकृत' १८८० ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

प्राकृत भाषा के पाणिनि : पिशल :

पाश्चात्य विद्वानों में जर्मन विद्वान् रिचर्ड पिशल (R.Pischel) ने सर्वप्रथम प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक एवं व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। यद्यपि उनके पूर्व हार्नल, लास्सन, होयेफर, वेबर आदि ने प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु इस अध्ययन को पूर्णता पिशल ने ही प्रदान की है।

रिचर्ड पिशल ने आचार्य हेमचन्द्रकृत 'हेमब्दानुशासन' प्राकृत व्याकरण का व्यवस्थित रीति से प्रथम बार सम्पादन किया, जो सन् १८७७ ई० में प्रकाशित हुआ। प्राकृत भाषा के अध्ययन में पिशल ने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया। प्राकृत भाषा के व्याकरण की प्रकाशित एवं अप्रकाशित अनेक कृतियों के अनुशीलन के आधार पर उन्होंने प्राकृत भाषाओं का व्याकरण 'ग्रेमेटिक डेर प्राकृत श्प्राखन' नाम से जर्मन में लिखा, जो १९०० ई० में जर्मनी के स्तास्बुर्ग नगर से प्रकाशित हुआ। इसके अब अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

प्राकृत भाषा के इस महान् ग्रन्थ में पिशल ने न केवल प्राकृत भाषा के व्याकरण को व्यवस्थित रूप दिया है, अपितु प्राकृत भाषा की उत्पत्ति आदि पर भी विचार किया है। अपने पूर्ववर्ती पाश्चात्य विद्वानों के मतों का निरसन करते हुए पिशल ने पहली बार यह मत प्रतिपादित किया कि प्राकृत भाषा संस्कृत से उत्पन्न न होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई है। वैदिक भाषा के साथ प्राकृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उन्होंने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन की नई दिशा प्रदान की है।[४]

विभिन्न प्राकृतों का अध्ययन

डा० पिशल के बाद बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत भाषा के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया था। स्वतन्त्र ग्रन्थों के साथ-साथ प्राकृत भाषा सम्बन्धी लेख भी शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे। इस समय के विद्वानों में जार्ज ग्रियर्सन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सामान्य भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उनका जो योगदान है, उतना ही प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में भी।

सन् १९०६ में ग्रियर्सन ने पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध में 'द पैशाची लेंग्वेज आफ नार्थ-वेस्टर्न इण्डिया' नाम से एक निबन्ध लिखा, जो लन्दन से छपा था।[५] १९६९ ई० में दिल्ली से इसका दूसरा संस्करण निकला है। पैशाची प्राकृत की उत्पत्ति एवं उसका अन्य भाषाओं के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर आपने विशेष अध्ययन कर १९१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ई० में 'द प्रिवेशन आफ पैशाची एण्ड इट्स रिलेशन टु अदर लेंग्वेज' नामक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया।[६] १९१३ ई० में आपने ढक्की प्राकृत के सम्बन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किया 'अपभ्रंश एकॉडिंग टू मार्कण्डेय एण्ड ढक्की प्राकृत।'[७] इनके अतिरिक्त ग्रियर्सन का प्राकृत के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में अध्ययन निरन्तर चलता रहा है। 'द प्राकृत विभाषाज'[८] 'एन अरवेकवर्ड क्वेटेड वाय हेमचन्द्र',[९] 'प्राकृत धत्वादेश',[१०] 'पैशाची',[११] आदि निबन्ध प्राकृत भाषा एवं अपभ्रंश के अध्ययन के प्रति ग्रियर्सन की अभिरुचि को प्रगट करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक तक प्राकृत भाषा का अध्ययन कई पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए इस समय भारतीय भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक समझा जाने लगा था। कुछ विद्वानों ने तो प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थों का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन भी किया है। हुल्टजश्च ने सिंहराज के प्राकृत-रूपावतार का सम्पादन किया, जो सन् १९०९ में लन्दन से छपा।

जैनविद्या का अध्ययन करने वाले विद्वानों में इस समय के प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी थे, जिन्होंने प्राकृत वाङ्मय का विशेष अनुशीलन किया है। जैकोबी ने 'औसगे वेल्ते एर्से लिंगन इन महाराष्ट्री' (महाराष्ट्री (प्राकृत) की चुनी हुई कहानियाँ) नाम से एक पाठ्यपुस्तक तैयार की, जो सन् १८८६ ई० में लिपजिग (जर्मनी) से प्रकाशित हुई। इसके इण्ट्रोडक्शन में उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है तथा वैदिक भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक के विकास को प्रस्तुत किया है। जैकोबी ने अपने द्वारा सम्पादित प्राकृत ग्रन्थों की भूमिकाओं के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में स्वतन्त्र निबन्ध भी लिखे हैं। सन् १९१२-१३ में उन्होंने 'प्राकृत देर जेस, उवर आइने नीव सन्धिरीगल इन पाली डण्ड इन, डण्ड उबर दी वेटोमिंग इण्डिश्चिन स्प्राखन' नामक निबन्ध लिखा,[१२] जो, पालि-प्राकृत भाषाओं पर प्रकाश डालता है। जैनकथा साहित्य के आधार पर प्राकृत का सर्वप्रथम अध्ययन जैकोबी ने ही किया है। इस सम्बन्ध में उनका 'उवर डैस प्राकृत इन डेर इर्त्सेलंग लिटरेचर डेर जैन' नामक निबन्ध महत्त्वपूर्ण है।

इसी समय पीटर्सन का 'वैदिक संस्कृत एण्ड प्राकृत'[१३], एफ० इ० पर्जिटर का 'चूलिका पैशाचिक प्राकृत'[१४], आर० श्मिदित का 'एलीमेण्टर बुक डेर शौरसैनी', बाल्टर शुब्रिंग का 'प्राकृत डिचटुंग डण्ड प्राकृत ग्रैमेनीक'[१५], एल० डी० बर्नेट का 'एप्ल्यूरल फार्म इन द प्राकृत आफ खोतान'[१६] आदि गवेषणात्मक कार्य प्राकृत भाषाओं के अध्ययन के सम्बन्ध में प्रकाश में आये।

इस शताब्दी में चतुर्थ एवं पंचम दशक में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत भाषा के क्षेत्र में जो कार्य किया उसमें ल्युजिआ नित्ति का अध्ययन विशेष महत्व का है। उन्होंने न केवल प्राकृत के विभिन्न वैयाकरणों के मतों का अध्ययन किया है, अपितु अभी तक प्राकृत भाषा पर हुए पिशेल आदि के ग्रन्थों की सम्यग् समीक्षा भी की है।[१७] उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेस ग्रेमेरियन्स प्राकृत्स' (प्राकृत के व्याकरणकार) है, जो पेरिस से सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ है। नित्ति डोलची का दूसरा ग्रन्थ 'डु प्राकृतकल्पतरु डेस रामशर्मन विब्लियोथिक डिले आल हेट्स इटूयड्स' है। इन्होंने प्राकृत-अपभ्रंश भाषा से सम्बन्धित समस्याओं पर शोध-निबन्ध भी लिखे हैं—'प्राकृत ग्रेमेरिअन्स र्टडिस एट डायलेक्ट्स डु'[१८] आदि।

इसी समय टी० बरो का 'द लेंग्वेज आफ द खरोष्ट्री डोकुमेंट्स फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान', नामक निबन्ध १९३७ में कैम्ब्रिज से प्रकाशित हुआ। प्राकृत मुहावरों के सम्बन्ध में विल्तोरे पिसानी ने 'एन अननोटिस्ड प्राकृत इडियम' नामक लेख प्रकाशित किया। मागधी एवं अर्धमागधी के स्वरूप का विवेचन करने वाला डब्ल्यू० ई० क्लर्क का लेख 'मागधी एण्ड अर्धमागधी',[१९] सन् १९४४ ई० में प्रकाश में आया। १९४८ ई० में नार्मन ब्राउन ने जैन महाराष्ट्री प्राकृत और उसके साहित्य का परिचय देने वाला 'जैन महाराष्ट्री प्राकृत सम केनिकल मेटेरियल इन' नाम से एक लेख लिखा।[२०]

इस शताब्दी के छठे दशक में प्राकृत के साहित्यिक ग्रन्थों पर भी पाश्चात्य विद्वानों ने दृष्टिपात किया। कुवलयमालाकथा की भाषा ने विद्वानों को अधिक आकृष्ट किया। सन् १९५० में अल्फ्रड मास्तर ने 'ग्लीनिंग्स फ्राम द कुवलयमाला' नामक लेख लिखा[२१], जिसमें उन्होंने ग्रन्थ की १८ देशी भाषाओं पर प्रकाश डाला। दूसरे विद्वान् जे० क्यूपर ने 'द पैशाची फ्रागमेन्ट आफ द कुवलयमाला' में ग्रन्थ की भाषा की व्याकरण-मूलक व्याख्या प्रस्तुत की।[२२] प्राकृत भाषा के अध्ययन के इस प्रसार के कारण विश्व की अन्य भाषाओं के साथ भी उसकी तुलना की जाने लगी। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ज्यूल्स ब्लाख ने अपने 'प्राकृत Cia लैटिन guiden लेंग्वेज'[२३] नामक लेख में प्राकृत और लैटिन भाषा के सम्बन्धों पर विचार किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक प्राकृत और अपभ्रंश में कोई विशेष भेद नहीं माना जाता था। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की खोज एवं अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आने से अब ये दोनों भाषाएँ स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में आ गयी हैं और उन पर अलग-अलग अध्ययन-अनुसन्धान होने लगा है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अब तक हुए अध्ययन और प्रकाशन का विवरण डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने परिश्रमपूर्वक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है।[२४] उससे ज्ञात होता है कि पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपभ्रंश भाषा का पर्याप्त अध्ययन किया है।

रिचर्ड पिशल ने प्राकृत व्याकरण के साथ अपभ्रंशभाषा के स्वरूप आदि का भी अध्ययन प्रस्तुत किया। १८८० ई० में उन्होंने 'देशी नाममाला' का सम्पादन कर उसे प्रकाशित कराया, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि अपभ्रंश भाषा जनता की भाषा थी और उसमें साहित्य भी रचा जाता था। आपके मत का लास्सन ने भी समर्थन किया। १९०२ ई० में पिशल द्वारा लिखित 'माटेरिआलिसन त्सुर डेस अपभ्रंश' पुस्तक बर्लिन से प्रकाशित हुई, जिसमें स्वतन्त्र रूप से अपभ्रंश का विवेचन किया गया।

जिस प्रकार प्राकृत भाषा के अध्ययन का सूत्रपात करने वाले रिचर्ड पिशल थे, उसीप्रकार अपभ्रंश के ग्रन्थों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने वाले विद्वान् डॉ० हर्मन जैकोबी थे। १९१४ ई० में जैकोबी को भारत के जैन-ग्रन्थ भण्डारों में खोज करते हुए अहमदाबाद में अपभ्रंश का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' प्राप्त हुआ तथा राजकोट में 'नेमिनाथ चरित' की पाण्डुलिपि मिली। जैकोबी ने इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन कर अपनी भूमिका के साथ इन्हें प्रकाशित किया। तभी से अपभ्रंश भाषा के अध्ययन में भी गतिशीलता आयी। अपभ्रंश का सम्बन्ध आधुनिक भाषाओं के साथ स्पष्ट होने लगा।

अपभ्रंश भाषा के तीसरे विदेशी अन्वेषक मनीषी डॉ० एल० पी० टेस्सिटरी हैं, जिन्होंने राजस्थानी और गुजराती भाषा का अध्ययन अपभ्रंश के सन्दर्भ में किया है। सन् १९१४ से १९१६ ई० तक आपके विद्वत्तापूर्ण लेखों ने[२५] अपभ्रंश के स्वरूप एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ उसके सम्बन्धों को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। टेस्सिटरी के इन लेखों के अनुवादक डा० नामवरसिंह एवं डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन लेखों को आधुनिक भारतीय भाषाओं और अपभ्रंश को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में स्वीकार करते हैं। इस बात की पुष्टि डा० ग्रियर्सन द्वारा अपभ्रंश के क्षेत्र में किये गये कार्यों से हुई है।

डा० ग्रियर्सन ने 'लिग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' के प्रथम भाग में अपभ्रंश पर विशेष विचार किया है। १९१३ ई० में ग्रियर्सन ने मार्कण्डेय के अनुसार अपभ्रंश भाषा के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत करते हुए एक लेख प्रकाशित किया। १९२२ ई० में 'द अपभ्रंश स्तवकाज आफ रामशर्मन' नामक एक और लेख आपका प्रकाश में आया।[२६] इसी वर्ष अपभ्रंश पर आप स्वतन्त्र रूप से भी लिखते रहे।

बीसवीं शताब्दी के तृतीय एवं चतुर्थ दशक में अपभ्रंश पर और भी निबन्ध प्रकाश में आये। हर्मन जैकोबी का 'जूर फ्राग नाक डेम उसप्रंगप्स अपभ्रंश[२७] एस० स्मिथ का 'देजीमांस दु तीय अपभ्रंश आ पाली'[२८] तथा लुडविग आल्सडोर्फ का 'अपभ्रंश मटेरेलियन जूर कॅटनिस, डेस, बेमर कुनजन जू पिशेल'[२९] आदि अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। १९३७ ई० में डा० आल्सडोर्फ ने 'अपभ्रंश स्टडियन' नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ ही पिपजिग से प्रकाशित किया, जो अपभ्रंश पर अब तक हुए कार्यों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। १९३९ ई० में लुइगा नित्ति डोलची के 'द अपभ्रंश स्तवकाज आफ रामशर्मन' से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश कृतियों के फ्रेंच में अनुवाद भी होने लगे थे। नित्ति डोलची ने अपभ्रंश एवं प्राकृत पर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन ही नहीं किया, अपितु पिशल जैसे प्राकृत भाषा के मनीषी की स्थापनाओं की समीक्षा भी की है।

सन् १९५० के बाद अपभ्रंश साहित्य की अनेक कृतियाँ प्रकाश में आने लगीं। अतः उनके सम्पादन और अध्ययन में भी प्रगति हुई। भारतीय विद्वानों ने इस अवधि में प्राकृत-अपभ्रंश पर पर्याप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है।[३०] विदेशी विद्वानों में डा० के० डी० ब्रीस एवं आल्सडोर्फ के नाम उल्लेखनीय हैं। के० डी० ब्रीस ने १९५४ ई० में 'अपभ्रंश स्टडीज' नामक दो निबन्ध प्रस्तुत किये।[31] द्रविड़ भाषा और अपभ्रंश का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उन्होंने 'ए द्राविडियन टर्न इन अपभ्रंश,[३२] 'ए द्राविडियन ईडियम इन अपभ्रंश[33] नामक दो निबन्ध तथा 'अपभ्रंश स्टडीज' का तीसरा[३४] और चौथा[३५] निबन्ध १९५९-६१ के बीच प्रकाशित किये।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में अपभ्रंश भाषा के क्षेत्र में विदेशी विद्वान् तिश्योशी नारा का कार्य महत्त्वपूर्ण है। सन् १९६३ ई० में उन्होंने 'शार्टनिंग आफ द फाइनल वावेल आफ इन्स्ट० सीग० एन एण्ड फोनोलाजी आफ द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेंग्वेज इन सरह दोहा' नामक निबन्ध प्रकाशित किया[36], १९६४ ई० में 'ए स्टडी आफ अवहट्ट एण्ड प्रोटोबेंगाली' विषय पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से आपका शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुआ। इसके बाद भी अपभ्रंश पर आपका अध्ययन गतिशील रहा। १९६५ ई० में अपभ्रंश एण्ड अवहट्ट-प्रोटो न्यू इंडो-आर्यन स्टेजेज'[37] नामक निबन्ध आपके द्वारा प्रस्तुत किया गया।

जैन साहित्य

पाश्चात्य विद्वानों ने केवल प्राकृत एवं अपभ्रंश का भाषावैज्ञानिक अध्ययन ही नहीं किया अपितु इन भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन किया है। जैनागम, जैनटीका-साहित्य तथा स्वतन्त्र-साहित्यिक रचनाओं के प्रामाणिक संस्करण जर्मन और फ्रेंच विद्वानों द्वारा तैयार किये गये हैं। जैन कथा साहित्य पर उनकी विशेष रुचि रही है। व्याकरण एवं भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त १९वीं शताब्दी से अब तक जैन साहित्य के जिन प्रमुख ग्रन्थों पर पाश्चात्य विद्वानों ने कार्य किया है, उनका विवरण-कालक्रम की दृष्टि से इस प्रकार है—

१.	अभिधानचिन्तामणि	ओ० बोतलिक	१८४८ ई०
२.	शत्रुंजयमहात्म्य	अल्वर्ट वेबर	१८५८
३.	भगवतीसूत्र[38]	जैकोबी	१८६८
४.	कल्पसूत्र	जैकोबी	१८७९
५.	देशीनाममाला	पिशल	१८८०
६.	नायाधम्मकहा	स्टेनल	१८८१
७.	औपपातिकसूत्र एवं		
८.	रायपसेणिय	लायमन	१८८२
९.	आचारांग	जैकोबी	१८८५
१०.	उत्तराध्ययनटीका	जैकोबी	१८८६
११.	हेमचन्द्र लिंगानुशासन	एफ० आर० ओटो	१८८६
१२.	कथासंग्रह	जैकोबी	१८८६
१३.	सगरकथा का जैन रूप	फिक	१८८६
१४.	उपमितिभवप्रपंचकथा	जैकोबी	१८९१
१५.	महावीर एवं बुद्ध	एस० एफ० ओटो	१९०२
१६.	धर्मपरीक्षा	मिरनोव निकालेस	१९०३
१७.	कल्पसूत्र	शुब्रिंग	१९०४
१८.	जैनग्रन्थसंग्रह	ग्यूरेनिट	१९०६
१९.	ज्ञाताधर्मकथा	हट्टमन	१९०७
२०.	अंतगडदसाओ	बरनट	१९०७
२१.	वज्जालग्ग	जूलस	१९१३
२२.	पउमचरियं	जैकोबी	१९१४
२३.	कर्मग्रन्थ	ग्लसनप	१९१५
२४.	भविसयत्तकहा	जैकोबी	१९१८
२५.	प्रबन्धचिन्तामणि	सिवेल	१९२०
२६.	कालकाचार्य कथानक	जैकोबी	१९२१
२७.	नेमिनाथचरित	जैकोबी	१९२१
२८.	सनत्कुमारचरित	जैकोबी	१९२१
२९.	तत्वार्थाधिगमसूत्र एवं कल्पसूत्र	सुजुकी	१९२१
३०.	उत्तराध्ययनसूत्र	कारपेण्टर	१९२२
३१.	दिगम्बर जैन ग्रन्थों का परिचय	वाल्टर	१९२३
३२.	कुमारपालप्रतिबोध	आल्सडोर्फ	१९२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३.	दसवेयालियसुत्त	लेमन	१९३२
३४.	हरिवंशपुराण एवं		
३५.	महापुराण	आल्सडोर्फ	१९३५
३६.	सूर्यप्रज्ञप्ति	कोल	१९३७
३७.	जम्बूदीपप्रज्ञप्ति	डब्लू किफेल	१९३७
३८.	प्राकृत कल्पतरु	नित्ति डोलची	१९३९
३९.	न्यायावतारसूत्र	कनकुरा	१९४४
४०.	महानिशीथ	हम्म	१९४८
४१.	मल्ली की कथा	गुस्तेव	१९५२
४२.	चौपन्न महापुरिसचरियं	कलास	१९५५
४३.	महानिशीथ	शुब्रिंग	१९६३
४४.	आयारदशाओ	शुब्रिंग	१९६६
४५.	प्रवचनसार	ए. ऊनो	१९६६
४६.	उत्तराध्ययन	आल्सडोर्फ	१९५४-६६
४७.	ओघनिर्युक्ति	ए. मेटे	१९६८
४८.	मूलाचार[३९]	आल्सडोर्फ	१९६८
४९.	भगवती मूलाराधना	आल्सडोर्फ	१९६८
५०.	अनुयोगद्वारसूत्र	टी० हनाकी	१९७०

विभिन्न विषय

जैन साहित्य के इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन-दर्शन की अन्य विधाओं पर पाश्चात्य विद्वानों ने लिखा है। उन्होंने जैन ग्रन्थों का सम्पादन ही नहीं किया, अपितु उनके फ्रेंच एवं जर्मन भाषाओं में अनुवाद भी किये हैं। लायमन ने पादलिप्तसूरि की तरंगवती कथा का सुन्दर अनुवाद दाइनोन (Die Nonne—The Nun) के नाम से प्रकाशित किया है। इस दृष्टि से चार्लट क्रोसे का इंडियन नावेल (Indisch Novellen) महत्त्वपूर्ण कार्य है।[४०] जैनाचार्यों की जीवनी-साहित्य की दृष्टि से हर्मन जैकोबी का 'अवर डास लेवन डेस जैन मोन्स हेमचन्द्र' नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

जैन इतिहास और पुरातत्त्व के महत्त्वपूर्ण अवशेषों के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य विद्वानों ने अध्ययन प्रस्तुत किया है। डी० मेनट ने गिरनार के जैन मन्दिरों पर लिखा है। जोरलडुबरल ने दक्षिण भारत के पुरातत्त्व पर विचार करते हुए जैन पुरातत्त्व के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। ए० ग्यूरिनट ने जैन अभिलेखों के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है।[४१] ग्यूरिनट का विशेष योगदान जैन ग्रन्थ सूची के निर्माण करने में भी है। उन्होंने ८५२ जैन ग्रन्थ का परिचय अपने 'एसे आन जैन बिब्लियोग्राफी' नामक निबन्ध में दिया है। इसके बाद 'नोटस आन जैन बिब्लियोग्राफी' तथा 'सम कलेक्शन्स आफ जैन बुक्स' जैसे निबन्ध भी उन्होंने जैन ग्रन्थ सूची के निर्माण के सम्बन्ध में लिखे हैं।[४२] इनके पूर्व भी १८९७ ई० में अर्नेस्ट ल्यूमन ने २०० हस्तलिखित दिगम्बर जैन ग्रन्थों का परिचय अपने एक लेख में दिया है।[४३]

जैन साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में विन्तरनित्स का स्थान उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने 'हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में लगभग १५० पृष्ठों में जैन साहित्य का विवरण दिया है। उस समय उन्हें उतने ही जैन ग्रन्थ उपलब्ध थे। इस विवरण में विन्टरनित्स ने जैन कथाओं का भारत की अन्य कथाओं एवं विदेशी कथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

विदेशों में जैनविद्या के अध्ययन केन्द्र

लगभग दो सौ वर्षों तक पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या पर किया गया अध्ययन भारत एवं विदेशों में जैनविद्या के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त उपयोगी रहा है। इन विद्वानों के कार्यों एवं लगन को देखकर भारतीय विद्वान् भी जैनविद्या के अध्ययन में जुटे। परिणामस्वरूप न केवल प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य के सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाश में आये, अपितु भारतीय विद्या के अध्ययन के लिए जैनविद्या के अध्ययन की अनिवार्यता अब अनुभव की जाने लगी है। डा० पी० एल० वैद्या, डा० एच० डी० बेलणकर, डा० एच० एल० जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० जी० बी० सगारे, मुनिपुण्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विजय एवं मुनि जिनविजय, पं० दलसुख भाई मालवणिया आदि विद्वानों के कार्यों को इस क्षेत्र में सदा स्मरण किया जावेगा।

विदेशों में भी वर्तमान में जैनविद्या के अध्ययन ने जोर पकड़ा है। पूर्व जर्मनी में फ्री युनिवर्सिटी बर्लिन में प्रोफेसर डा० क्लोस ब्रूहन (Klaus Bruehn) जैन लिटरेचर एण्ड माइथोलाजी, इंडियन आर्ट एण्ड इकोनोग्राफी का अध्यापन कार्य कर रहे हैं। उनके सहयोगी डा० सी० बी० त्रिपाठी बुद्धिस्त-जैन लिटरेचर तथा डा० मोनीका जार्डन जैन लिटरेचर का अध्यापन कार्य करने में संलग्न हैं। पश्चिमी जर्मनी हमबर्ग में डा० एल० आलसडार्फ स्वयं जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न हैं। उत्तराध्ययननिर्युक्ति पर कार्य कर रहे हैं। उनके छात्र श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन ग्रन्थों पर शोध कर रहे हैं।

प्राकृत भाषाओं का विशेष अध्ययन बेलजियम में किया जा रहा है। वहाँ पर डा० जे० डेल्यू० 'जैनिज्म तथा प्राकृत' पर, डा० एल० डी० राय 'क्लासिकल संस्कृत एण्ड प्राकृत' पर प्रो० डा० आर० फोहले 'क्लासिकल संस्कृत प्राकृत एण्ड इंडियन रिलीजन' पर तथा प्रो० डा० ए० श्चार्ये 'एशियण्ट इंडियन लेंग्वेजेज एण्ड लिटरेचर—वैदिक, क्लासिकल संस्कृत एण्ड प्राकृत' पर अध्ययन-अनुसन्धान कर रहे हैं।[४४]

इसी प्रकार पेनीसिलवानिया युनिवर्सिटी में प्रो० नार्मन ब्राउन के निर्देशन में प्राकृत तथा जैन साहित्य में शोधकार्य हुआ है। इटली में प्रो० डा० वितरो विसानी एवं प्रो० ओकार बोटो (Occar Botto) जैन विद्या के अध्ययन में संलग्न हैं। आस्ट्रेलिया में प्रो० ई० फाउलनर वेना (E. Frauwalner Viena) जैनविद्या के विद्वान हैं। पेरिस में प्रो० डा० लौस रेनु (Louis Renou), रोम में डा० टुची (Tuchi) तथा जार्जिया (Georgia) में डा० वाल्टर वार्ड (Walterward) भारतीय विद्या के अध्ययन के साथ साथ जैनिज्म पर भी शोध-कार्य में संलग्न हैं।[४५]

जापान में जैनविद्या का अध्ययन बौद्धधर्म के साथ चीनी एवं तिब्बतन स्रोतों के आधार पर प्रारम्भ हुआ। इसके प्रवर्तक थे प्रो० जे सुजुकी (J. Suzuki) जिन्होंने 'जैन सेक्रेड बुक्स' के नाम से (Jainakyoseiten) लगभग २५० पृष्ठ की पुस्तक लिखी। वह १९२० ई० में 'वर्ल्डस सेक्रेड बुक्स' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुई।[४६] सुजुकी ने 'तत्वार्थधिगम सूत्र', 'योगशास्त्र' एवं 'कल्पसूत्र' का जापानी अनुवाद भी अपनी भूमिकाओं के साथ प्रकाशित किया।[४७] जैनविद्या पर कार्य करने वाले दूसरे जापानी विद्वान तुहकू (Tohuku) विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या के अध्यक्ष डा० ई० कनकुरा (E. Kanakura) हैं। इन्होंने सन् १९३९ में प्रकाशित हिस्ट्री आफ स्प्रिचुअल सिविलाइजेशन आफ एंशियण्ट इंडिया के नवें अध्याय में जैनधर्म के सिद्धान्तों की विवेचना की है। तथा 'द स्टडी आफ जैनिज्म' कृति १९४० में आपके द्वारा प्रकाश में आयी। १९४४ ई० में तत्त्वार्थधिगमसूत्र एवं न्यायावतार का जापानी अनुवाद भी आपने किया है।[४८]

बीसवीं शताब्दी के छठे एवं सातवें दशक में भी जैनविद्या पर महत्त्वपूर्ण कार्य जापान में हुआ है। तेशो (Taisho) विश्वविद्यालय के प्रो० एस० मत्सुनामी (S. Matsunami) ने बौद्धधर्म और जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[४९] 'ए स्टडी आन ध्यान इन दिगम्बर सेक्ट' (१९६१) 'एथिक्स आफ जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म' (१९६३) तथा इसिमासियाइं' (१९६६) एवं 'दसवेयालियसुत्त' (१९६८) का जापानी अनुवाद जैनविद्या पर आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।[५०] सन् १९७० ई० में डा० एच० उइ (H. Ui) की पुस्तक 'स्टडी आफ इंडियन फिलासफी' प्रकाश में आयी। उसके दूसरे एवं तीसरे भाग में उन्होंने जैनधर्म के सम्बन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किया है।

टोकियो विश्वविद्यालय के प्रो० डा० एच० नकमुरा (H. Nakamura) तथा प्रो० यूतक ओजिहारा (Yotak Ojihara) वर्तमान में जैनविद्या के अध्ययन में अभिरुचि रखते हैं। उनके लेखों में जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।[५१] श्री अत्सुशी उनो (Atsush Uno) भी जैनविद्या के उत्साही विद्वान् हैं। इन्होंने वीतरागस्तुति (हेमचन्द्र), प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार, तथा सर्वदर्शनसंग्रह के तृतीय अध्याय का जापानी अनुवाद प्रस्तुत किया है। कुछ जैनधर्म सम्बन्धी लेख भी लिखे हैं। सन् १९६१ में 'कर्म डॉक्ट्राइन इन जैनिज्म' नामक पुस्तक भी आपने लिखी है।[५२]

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या पर किये गये कार्यों के इस विवरण को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। बहुत से विद्वानों और उनके कार्यों का उल्लेख साधनहीनता और समय की कमी के कारण इसमें नहीं हो पाया है।[५३] फिर भी पाश्चात्य विद्वानों की लगभग लगन, परिश्रम एवं निष्पक्ष प्रतिपादन शैली का ज्ञान इससे होता ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या के क्षेत्र में किये गये इस योगदान का एक परिणाम यह भी हुआ कि भारत और विदेशों में जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन के लिए स्वस्थ वातावरण तैयार हुआ है। अनेक विदेशी विद्वान भारत की विभिन्न संस्थाओं में तथा अनेक भारतीय विद्वान् विदेशों के विश्वविद्यालयों में जैनविद्या पर शोध-कार्य करने में संलग्न हैं।[५४]

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

1 Pot—The Etymological Study of Indo-European Languages (1833-36).
Shliescher—Comparative Work in the Grammar of Indo-European Languages.
2 F. Wiesinger—Grammar Indology : Past and Present, 1969, Bombay.
3 The Indian Antiquary, Vol. 3, p. 17-21 and p. 166-168.
4 A. M. Ghatge—A Brief Sketch of Prakrit Studies : In Progress of Indic Studies, Poona, 1942.
5 Asiatic Society Monographs, Vol. 8, London, 1906.
6 Journal of the German Oriental Society, 1912.
7 Journal of the Royal Asiatic Society, 1913, p. 875-883.
8 The Indian Antiquary, 1918.
9 Journal of the Royal Asiatic Society, London, 1919.
10 Memories of the Asiatic Society of Bengal, Vol. 8. No. 2, 1924.
11 Sir Ashutosh Mukerjee Silver Jubilee Vol. 3, 1925, p. 119-141.
12 फेस्टगबे डेलब्रुक स्मृतिग्रन्थ, स्ट्रासबर्ग, १९१२-१३, पृ० २११-२२१
13 Journal of the American Oriental Society, Vol. 32, 1912.
14 Journal of the Royal Asiatic Society, New Series, London, 1912, p. 711-713.
15 F. Stegarve Jacobi, Bonn (Germany) 1926, p. 89-97.
16 Journal of the Royal Asiatic Society, New Series, London, 1927, p. 848 and 1928, p. 399.
17 See—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु० जोशी, आमुख पृ० ३-७
18 Bulletin of School of Oriental and African Studies, No. 8. p. 681-683, London, 1936.
19 Journal of the American Oriental and African Studies, No. 8, p. 681-683, London, 1936.
20 के० एम० मुन्शी स्वर्णमहोत्सव ग्रन्थ, भाग ६, पृ० २७-३२
21 Bulletin of the School of Oriental and African Studies, Vol. 13, No. 2, 4.
22 Indo-Iranian Journal, Vol. 1, No. 1, 1957.
23 Journal of the Linguistic Society of America, Vol. 29. No. 2, Part 1-2, April-June, 1953.
24 डॉ० के० शास्त्री—अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ, दिल्ली, १९७२
25 'Notes on the Grammar of the Old Western Rajasthani with special reference to Apabhramsa and Gujrati and Marvari'—Indian Antiquary, 1914-16.
26 Indian Antiquary, Jan. 1922.
27 फेस्टगिश्रिष्ट जे० वाकरनल, पृ० १२४-१३१, गार्टिगन, १९२३
28 Bulletin of the School of London, 33, p. 169-72.
29 M. Winternitz Memorial Volume, p. 29-36, 1933.
30 डॉ० शास्त्री, वही, पृ० ६०-६४
31 Journal of the American Oriental Society, Vol. 74. No. 1. p. 1-5, No. 3, p. 142-46.
32 Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ayarland, London, Vol. 1-2. 1954.
33 Prof. P. K. Gour *Commemoration* Vol. 1960.
34 Journal of the American Oriental Society, Vol. 79, No. 1. 1959.
35 Ibid, Vol. 81, No. 1, p. 13-21, 1961.
36 Bulletin of the Philological Society of Calcutta, 4, 1, 1963.
37 Journal of the Linguistic Society of Japan, Vol. 42, p. 47-58, 1965.
38 German Indology—Past and Present, p. 21
39 Bharatiya Jnanpith Patrika, Oct. 1968, p. 183.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

40 The Contribution of French and German Scholars to Jain Studies.—Acharya Bhikshu Smritigranth, p. 106.
41 Ibid, D. K. Banerjee, p. 106.
42 Ibid, p. 106
43 'वीनेर जेटिश्चिफ्ट फुडी कुण्डे डेस मोर जेनलेण्डंस' (जर्मनी), पृ० २६७-३१२.
44 डॉ० शास्त्री, वही, पृ० ६२
45 ज्ञानपीठ पत्रिका, १६६८ पृ० १८३
46 Atsushi Uno—'Jain Studies in Japan' —Jain Journal Vol. VIII, No. 2., 1973, p. 75.
47 Ibid, p. 77
48 The Voice of Ahimsa, Vol. 6. 3-4, 1956, p. 136-37.
49 Jain Journal, Oct. 1973, p 78.
50 Ibid, p. 77.
51 Ibid.
52 'Progress of Prakrit and Jain Studies'—Presidential address of Dr. Nathmal Titia in AIOC Varnansi, 1968.
53 See—Ghatage—Above article, and Winternitz—History of Indian Literature, Vol. II.—Jain Literature.
54 जैन, राजाराम—अध्यक्षीय भाषण, प्राकृत एवं जैनिज्म विभाग, अ. भा. प्राच्यविद्या सम्मेलन, धारवाड़ १६७६

पुष्कर वाणी

किसी भी वस्तु का बाहरी रंग-रूप देखकर मत भरमाओ, उसका गुण और तत्त्व देखो, कस्तूरी काली होती है, पर कितनी मूल्यवान है ?

भैंस भी काली होती है, पर कितना उजला चिकना दूध देती है ?

सज्जन बाहर से भले ही मलिन वस्त्र पहने दिखें, सीधे-सादे दुबले-पतले हों, किन्तु उनकी उज्ज्वल आत्मा कितनी महान् है ? तुम बाहर को नहीं, भीतर को देखो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org